ओ३म्

"आर्यों का त्रैतवाद"

द्वारा प्रस्तुत

चतुर्थ पुष्प

निराकार ही की स्तुति

लेखक—रामेश्वर दयाल

एम. ए. बी. एस-सी. (इन्जीनियर)

सिद्धान्त शास्त्री (पीठ-कार्यवाह)

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजातः। तयोरन्यः पिप्पलं स्वादति अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति।

[ऋगवेद–१। १६४। १०]

पूर्व प्रकाशित प्रसून—

१. त्रैतवाद की पक्ष स्थापना
२. त्रैतवाद में ब्रह्म महायज्ञ
३. त्रैतवाद में देवयज्ञ

आगामी आयोजन—

४. निराकार स्तुति में गेय वृहत भजन संग्रह
५. त्रैतवाद में पितृ यज्ञ
६. त्रैतवाद में निहित सामाजिक एवं राजनैतिक तन्त्र

भोपाल निवासी श्री गोपालदास भारती के ख्याति प्राप्त आर्य-परिवार के आर्थिक सहयोग से पुस्तिका मात्र एक रुपये में उपलब्ध है।

प्रथमवार १०००

प्रकाशन तिथि गणेश चतुर्थी, सितम्बर १९७२

रियायती मूल्य एक रुपया

ॐ

निराकार स्तुति

(१)

हिन्दी कविता के सूर्यवत कवि-कुल-प्रवर संत सूरदास ने निर्गुणो-पासना की हंसी उड़ाते हुये एक सवैया गाया है :—

निर्गुण कौन देश को वासी ?
मधुकर ! हंसि-समुझाय सौहं दै, बूझति सांच, न हांसी ॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ?
कैसो वरन, भेस है कैसो, केहि रस में अभिलासी ॥
पावैगो पुनि कियो आपनो, जो रे ! कहैगो गांसी ।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सों, सूर सवै मति नासी ॥

यह निर्विकार निराकार जिसकी उपासना का, हे ऊधौ तुम संदेशा कृष्ण की ओर से हम गोपियों के लिये लाये हो, वह किस देश का वासी है उसका पिता, माता, उसकी नारी और दास कौन है ? उसका वर्ण (रंग) और भेष कैसा है । उसको किस रस की अभिलाशा है । यदि कर्म का फल मिलना ही है तो उसकी प्रार्थना की क्या आवश्यकता है । ऊधो को निरुत्तर खड़ा देख यह बात समझ में आई कि यह संदेश वाहक तो ठगा सा खड़ा है । मानो इसकी सब मति भ्रष्ट हो गई है ।

निर्गुणोपासकों का यह वड़ा कटु खंडन मंडन है। साधारण बुद्धि के पाँण्डित्य-विहीन अन्धभक्तों को यह वात बुद्धि से परे है कि रूप रस गन्ध से विहीन तथा माता-पिता-स्त्री-सेवकों से रहित भी कोई महान सत्ता हो सकती है। परन्तु इसका उत्तर सृष्टि-निर्माण के साथ प्रगटित वेद-वाणी में तभी दे दिया गया था। :—

१. न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः।
जो महान यशशाली है उसकी प्रतिकृति हो ही नहीं सकती।

२. सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः। स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा-श्वतीभ्यः समाभ्यः।
[यजुर्वेद अध्याय ४० मंत्र ८]

वह प्रभु चारो ओर व्याप्त, पूर्णतया चेतन, सर्वशक्ति मान, शुद्ध, पूर्ण सबका शासक एवं अनन्त ज्ञानवान है। यह तो हुई उसकी सगुण व्याख्या।

वह अकाय जन्म-मरण रहित, फुन्सी फोड़े एवं नस नाड़ियों से रहित भी है। यह हुई उसकी गुण-रहित अर्थात जो गुण उसमें नहीं हैं—उनका वर्णन करते हुये उसकी स्तुति। इसी को निर्गुणोपासना कहा है।

उसका कार्य यह है कि वह ठीक ठीक कर्म-फल-विधान की व्यवस्था जीवों के लिये करता है। इस पूजा पद्धति में ईश्वर से सीधा साक्षात्कार होता है; जो हर प्राणी नित्य प्रातः सायं और यावज्जीवन प्रति क्षण करता रहता है। उसके लिये न मन्दिर की आवश्यकता है, न प्रतीक की, और न ही किसी विचौलिया की।

कहते तो यों हैं कि समय के साथ विकास हो रहा है। भौतिक साधनों का भी और बौद्धिक उपलब्धियों का। परन्तु बौद्धिक विकास के

मामले में तो बात उलटी हो रही है। जहाँ नैसर्गिक वातावरण में नदी-तड़ाग के किनारे प्रभु-स्मरण की साक्षात पद्धति थी, वहां काल-क्षेम में मनुष्य ने अपने और प्रभु के बीच में अनेकों बिचौलियों (Middle men) को ला पिरोया है—जो कि बौद्धिक ह्रास और दिवालियेपन ही का द्योतक है। इस ह्रास की क्रमिक—बढ़ोतरी की भी कहानी है। और वह गीता के निम्न श्लोक से प्रारम्भ होती है :—

१. सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकम् शरणमाव्रज ।
अहमेव त्वां सर्वं पापेभ्यो मोक्षयिश्यामि मा शुचः ।

[सब धर्मों को छोड़ कर मेरी शरण में आ जाओ। मैं ही तुमको सब पापों से छुड़वा दूंगा। चिन्ता न करो।]

महाभारत युद्ध का समय अब से ५००० वर्ष पूर्व का है। परन्तु मूल गीता तो ७० श्लोकों की थी। ६३० शेष श्लोक तो बाद में जोड़े गये हैं। महाभारत के समय में बहुत से धर्म थे ही नहीं जिनकी प्रतियोगिता में इस श्लोक में कृष्ण-पन्थ की प्रशंसा की गई है। परन्तु यह तब की कथा है जब अवतारों की बात मान ली गयी थी और लोग कृष्ण को भगवान का अवतार सिद्ध करने में लगे हुये थे। ऐसे अवतारों के मोक्षदायक होने की घोषणा अत्यावश्यक थी। वैदिक मर्यादा में तो ईश्वर अर्थों और कर्म-फलों का नियोजक था। परन्तु बिचौलियों की मर्यादा में पापों का क्षय बिचौलियों की कृपा से सम्भव था। कुछ भी हो यह महात्मा बुद्ध के काल से तो पहिले की बात है। अर्थात अब से २५०० वर्ष से पूर्व। अवतारवाद हिन्दुओं में घर कर गया था। इनकी संख्या २३ तक पहुँच गई थी। बुद्ध को कलान्तर में मिलाकर २४ कर दी गई। प्रत्येक हिन्दू-मनीषी, विचारक और कवि के लिये यह एक मूल भूत धारणा बन चुकी थी और हिन्दू निष्क्रिय होकर हर विपत्ति में अवतार के प्रगट होने की धारणा और [illegible] सा बैठा रहता था।

तुलसीदास जी एक स्थल पर बाल काण्ड में राम–कथा प्रारम्भ करने से पहिले लिखते हैं :—

> एक अनीह अरूप अनामा, अज सच्चिदानंद पर धामा ।
> व्यापक विश्व रूप भगवाना, तेहिं धरि देह चरित्त कृत नाना ॥

ऊपर की लाईन में "अज" कहा पर नीचे की लाईन में देह धरने (अवतरित) होने की बात कही है। कैसा परस्पर विरोध है।

२. आज से २५०० वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने अवतारों और उनके प्रिय हिंसक कर्म-कान्डों के विपरीत विद्रोह किया और जब लोग नहीं माने तो ईश्वर की सत्ता पर ही सन्देह प्रगट कर दिया। परन्तु जब महात्मा बुद्ध दिवंगत हो गये तो फिर प्रश्न हुआ कि दुखी–जन किसकी शरण में जावें ? तब उनके अनुयायिओं ने श्लोक रचा :—

> बुद्ध मे शरणम् गच्छामि ।
> धम्म मे शरणम् गच्छामि ।
> संघ मे शरणम् गच्छामि ।

बुद्ध धर्म में प्रवेश करते समय यह ३ प्रण लेने की व्यवस्था की गई। इनमें धम्म और संघ तो बाद में हैं। पहिले बुद्ध की शरण में जाना होता है। परन्तु जो है नहीं—दिवंगत हो गया—उसकी शरण में जाना कैसे होगा ? तब समाधान हेतु बुद्ध की मूत्तियों को प्रचुर–तम मात्रा में निर्माण किया गया कि इनकी शरण में जाओ। बुद्ध–परस्ती—बुत-परस्ती शुरु हो गई। बौद्धों ने भी जैनों का पथ अपनाया। तीर्थंकरों की मूर्त्तियों का निर्माण भी नास्तिक-धर्म -प्रस्तोता द्वारा अपने शिष्यों को एक उपास्य देव देने की प्रक्रिया मात्र थी। मूर्ति-पूजा का आधार नास्तिक-दर्शन और उसकी मजबूरियां ही थीं।

३. इसकी होड़ा-होड़ी में हिन्दुओं ने भी मूर्त्तियां निर्मित करना प्रारम्भ किया। २४ तीर्थंकरों की नकल में २४ अवतारों की मूर्तियाँ बनीं। जैन सृष्टि-कर्त्ता नहीं मानते थे। शेष हिन्दू तो जगत के नियन्ता की बात करते थे। बौद्ध प्रवृत्ति ऐहिक माता–पिताओं को ही अपना जनक मानती थी। फलतः उनकी मृत्यु के उपरान्त भी बौद्धों के प्रमुख स्थल गया में पिन्ड दान और अन्यत्र श्राद्ध द्वारा उन्हे हवि पहुंचाने की प्रथा प्रारम्भ हुई। हिन्दुओं ने पिता के पिता महादेव और माता की माता, जगन्माता पार्वती और इस पितृत्व और मातृत्व के प्रतीक महान–लिंग और महान–योनि संयोग की पूजा की और इन्हीं के चित्रों को स्थापत्य में ढालकर शैव मन्दिरों की स्थापना की। सारा पृथ्वी-तल इनसे भर गया। मूर्ति पूजा का महान विरोधी मुहम्मद भी अपने जन्म स्थान मक्का में स्थित इस मन्दिर और उस में स्थित शिव लिंग (संगे–असवद) को नष्ट करने का साहस न कर सका, यह कह कर कि यह उसके देश की राष्ट्रीय विरासत है।

सम्भोग प्रक्रिया की पूजा करने वालों की एक जमात प्रागैतिहासिक काल से चली आई है। ऋग्वेद के निम्न मंत्र में प्रार्थना की गई है कि शिश्नेदेवा (लिंग पूजक) हमारे यज्ञ में न आवें ;—

[न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दनाः
शविष्ठवेधाभिः। सशर्धदर्यो
विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा
अपि गु ऋतं नः। (ऋ० ५–३–३–५)]

इनके दर्शन का मूल अद्वैत ही है। सारे जीव ब्रह्म में से मायावृत्त हो निकले, उस के अंश हैं। अस्तु भौतिक रिश्ते से प्रेगटित हम उस ब्रह्मा की संतान हैं। अस्तु हम उस महान पिता और उसकी शक्ति स्वरुपा स्त्री देवी पार्वती और उनकी संभोग–प्रक्रिया की पूजा द्वारा ईश्वर की स्तुति करें। स्वामी दयानन्द ने पहिले तो त्रैत दर्शन की स्थापना द्वारा यह सिद्ध किया

कि जीव और प्रकृति भी ईश्वर के समान अनादि और अनन्त हैं। ईश्वर दोनों में से किसी का उपादान कारण नहीं है। न ही ईश्वर से उसकी चेतन शक्ति प्रथक है और न उनके मानवी सम्भोग का उपमान मान्य है। इस स्थापत्य कला और उसमें निहित पूजा–पद्धति और उसका दार्शनिक श्रोत सभी अवैदिक और अनार्ष हैं।

कालान्तर में जब यज्ञ में बलि के प्रचलन के विरोध में बौद्ध समय में यज्ञों को कानूनन बन्द करवा दिया गया तो यह होते हुये अग्नि की लपटों और शिखरों को कलश का रूप देकर चतुर्भुजाकार यज्ञ–कुण्ड को ईंटों और पत्थरों के स्थापत्य के रूप में अमर करने हेतु वैष्णव मन्दिरों का इस देश में निर्माण हुआ।

दक्षिण-पथ में भी हर नगर में एक ओर शैव तो दूसरी ओर इस वैष्णव स्थापत्य कला के मन्दिर बने हुये हैं। वर्षों इनमें अत्यधिक वैमनस्यता रही। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यज्ञ प्रक्रिया का पुनरुद्धार किया। सर्व प्रथम तो उन्होंने यज्ञों में बलि प्रक्रिया का बल–पूर्वक खंडन किया। एत–द्विषयक सब वेद-मन्त्रों का यौगिक अर्थ प्रणाली के आधार पर सच्चा अर्थ दर्शाया। यदि वे महा-पण्डित न होते और यौगिक अर्थ प्रणाली उन्हे ज्ञात न होती तो शायद चारवाक के चरण-चिन्हों पर चलकर वे भी यही उद्घोष करने लगते कि जिन वेदों में पशु–बलि का समर्थन भरा पड़ा है, वे वेद तो निश्चय ही किसी निशिचर (राक्षस) की कृति हैं [त्रयो वेदस्य कर्त्तारः भांड धूर्त्त निशाचरः[पशु बलि से पिन्ड छुटाकर महर्षि ने आर्य जनों और जन–जन द्वारा एवं आर्य समाजों में नित्य और प्रातः–सायं यज्ञों का प्रचलन यत्न पूर्वक आरम्भ किया जो अभी तक अबाधवत चालू है। पौराणिक पंडित तो अगरबत्ती मात्र जलाकर अथवा धूप-दीप-नैवेद्य प्रस्तुत करके सतुष्ट हो जाते थे और कहते थे कि कलियुग में यज्ञ करने का निषेध है। कोई कोई मौन यज्ञ ही करते थे कि वेद-मन्त्रों का उच्चारण कलि में नहीं करना चाहिये, कारण

वेद-वाणी न जाने किन पात्र-अपात्र (शूद्रादि) के कर्ण गोचर हो जावे। इसका खण्डन स्वामी दयानन्द ने यह कह कर किया कि स्वयं वेद यह आज्ञा देते हैं कि "यथेमा वाचं कल्याणीम् वदानीमि जनेभ्यः।" जन जन को वेद की कल्याणमयी वाणी सुनाई जावे। अस्तु इस युग में आर्य समाज के प्रस्तोता ने यज्ञ प्रक्रिया का उद्धार कर दिया। अब उसके स्थापत्य-कला मात्र के रूप में ईंट-पत्थर पर स्थापित और चित्रित एवं अंकित करने का न कोई कारण है, न आवश्यकता।

ईश्वर-साक्षात की सीधी प्रक्रिया के प्रचार ने इन मन्दिरों को निरर्थक सिद्ध कर दिया। पूजा की इस मंहगी प्रणाली जिसमें ग्राम-ग्राम नगर-नगर में करोड़ों रुपया व्यय करके इन पूजा-स्थलों का निर्माण होता आ रहा है, को अब समाप्त कर देना चाहिये। यह राष्ट्रीय अपव्यय है। जब उजबेकिस्तान देश रूस के साम्यवादी राष्ट्रमण्डल में सम्मिलित हो गया तो समरकंद और बुखारा की विशाल मस्जिदों में फैक्टरी खोल दी गई और उन पर बाहर पत्थर लगाकर यह वाक्यांश लिख दिया गया :—

"अब यहां मानव के सुख के लिये वस्तुओं का उत्पादन होता है। यहां उषाकाल में खड़े होकर अब कोई नागरिकों की नींद हराम नहीं करेगा।" तात्पर्य अजा से है। समय रहते हमें चेतना चाहिये।

संसृति मन्दिरों मात्र से संतुष्ट नहीं रही। उनमें साज-सज्जा और प्रतीकात्मक उपास्य-देव भी ला बिठाला गया।

जैन-बौद्ध प्रभाव से हिन्दुओं ने अवतार और मूर्ति यह दो बिचौलिये अपने और अपने प्रभु के बीच में ला स्थापित किया। प्रारम्भ में तो कहा कि यह प्रभु तक पहुंचने के साधन मात्र हैं। पर बाद में साधन को ही साध्य समझ कर उसी में मग्न हो गये। प्रभु की स्तुति और प्रार्थना छोड़कर इन्हीं के साज-सज्जा शृंगार और अर्चा में [illegible]

४. कोई ५०० वर्ष बाद अर्थात् अब से १९७२ वर्ष पूर्व एशिया माइनर के प्रान्त पैलेस्टाइल में एक आन्दोलन उठा। इसमें श्रीमद्भागवद के आधार पर कृष्ण के अपभ्रंश क्रष्टो की कल्पना करके उसी प्रकार के जीवन चरित्रयुक्त जीवन झांकी उभारी गई। चार भक्त संत जोजफ, मैथ्यू, ल्यूकश एवं थोमस ने उस जीवन पर विपद रूप से लिखा। उस लेखन संग्रह की संज्ञा बाइबिल हुई और उसमें प्रभु-प्राप्ति का मार्ग बताया गया प्रभु के विशेष-पुत्र इन क्रष्टो महाशय पर ईमान लाना। कहा गया कि यह क्रष्टो युग-युगान्तरों तक के तुम्हारे सब पापों को क्षमा करवा कर उनका भार स्वयं उठा लेना और बदले में तुम्हे पुन्य की उतनी ही भारी गठरी दे देगा। उसी की शरण में आओ। आज सारी दुनियां में उन्हीं के मत वालों की संख्या सबसे अधिक है। पूर्व पैरा में वर्णित बौद्धों से भी अधिक है। इस सम्प्रदाय में विश्वास रखने वाले क्रष्टो को स्वयं तथा भगवान के बीच में बिचौलिया मानते हैं। भगवान तो दूर छूट गये, नित्य सायं प्रात. उसी व्यक्ति विशेष की अब पूजा होती है। अतुल धनराशि व्यय करके उसकी क्रास-मय प्रतिमायें स्थापित की गई हैं। प्रभु प्यारे को कौन पूछता है? क्रिष्टो की सर्वभावेन पूजा हो रही है क्योंकि वह प्रभु का विशेष पुत्र था। साकार बाद का ही यह एक रूप हैं जो मनुष्य को क्रमशः नास्तिकत्व की ओर ले जाता है। यह बात अब से १९७२ वर्ष पूर्व की है और नास्तिकत्व के क्रमशः विकास की ओर संकेत करती है।

५. अब से कोई १३७७ वर्ष पूर्व एक और महात्मा हुये। अपने चारो ओर मूर्तियों, बहुदेवताओं और परमात्मा के विशेष-पुत्र की पूजा देख वह क्षुब्ध हुये और उन्होंने इस शिर्क के खिलाफ जिहाद बोलकर तौहीद (एकी-श्वरवाद) का नारा बुलन्द किया। उन्होंने उद्घोष किया—

(१) ईसा मसीह ने तो कहा था कि अल्लाह हमारा प्रभु है, और किसी को अपने को उसके समान नहीं बताना चाहिये। पर तुमने यह

क्या किया। उसे ही प्रभु का विशेष पुत्र बता डाला। [कुरान अध्याय–६ आयत–७३]

(२) मेरी एक अच्छी स्त्री थी। उसने और इशु दोनों ने भोजन खाया, तो फिर पिता, पुत्र और पवित्रात्मा का सिद्धांत कैसा ?

[कुरान–६, आयत–७५]

(३) ईसा ने कहा जब तक मैं जिन्दा था, मैंने तौहीद फैलाई। मुझे जब आपने उठा लिया शिरकत फैली। [कुरान अध्याय-१३, आयत ११८]

(४) ईश्वर को योग्य नहीं कि किसी को बेटा बनाये।

[सूरत मरियम आयत ९२]

(५) सूरत तोबा आयत–३०–ईसाई मसीह को खुदा का बेटा बताते हैं। यहूदी उजैर को खुदा का बेटा कहते हैं। यह उनके मुंह की बातें मात्र हैं। पहले भी इसी तरह की बातें लोग कहते थे। ईश्वर उनका नाश करे। यह कहां भटकते फिरते हैं ?

स्वयं हजरत मोहम्मद ने मरते समय आज्ञा दी थी कि जिस खजूर के वृक्ष के नीचे वे मर रहे थे, उसे तुरन्त काट दिया जावे, ताकि उनकी मृत्यु के बाद लोग उस वृक्ष की ही पूजा न करने लगें।

परन्तु उनके मरने के बाद उनके शिष्यों ने क्या किया ? खलीफाओं द्वारा सम्पादित कुरान ने कहा कि "इस्लाम का मूल मन्त्र कलमा है जिसका अर्थ है कि ईश्वर दयालु है। और मुहम्मद ही उसका सन्देशवाहक (पैगम्बर) है। जो इन दोनों पर ईमान लावेगा वही मुसलमान (ईमान वाला) है।"

"जो पैगम्बर का आज्ञाकारी है वही खुदा का बन्दा है।" [कुरान भाग–४ आयत–८१]। बाद में हदीसों में भाव–विह्वल कवियों ने तो यहां तक गाया कि

"अल्लाह के पल्ले में वहदत के सिवा क्या है ?
लेना है सो ले लेंगे हम अपने मुहम्मद से !"

कुछेक मुस्लिम मनीषियों ने ह. मुहम्मद की ही दलील अपना कर कहा कि यदि मूसा और ईसा का इलहाम मन्सूख करवा के हजरत नये इलहाम लाने वाले थे, तो अब उनके सैकड़ों वर्षों बाद किसी नये इलहाम की स्वतः आवश्यकता हो गई है। बहावुल्ला खां बहाब और अभी अभी मिर्जा गुलाम मुहम्मद कादियानी ने कहा कि वे भी पैगम्बर हैं। परन्तु मुसलमानों ने इसे नहीं स्वीकारा। वहावियों और कादियानियों को भी वे काफिर कहते हैं। सम्प्रदाय चलाने वाले अपने आका के बाद किसी और आका, अवतार, पैगम्बर या गुरु का होना नहीं मानते। उनके चरित्र नायक सारी परम्परा के तारतम्य में अन्तिम करार दिये जाते हैं। तभी तो उन्हीं की पूजा प्रचलित हो सकती है। ईश्वर—पूजा का नम्बर बाद में आता है। पहिले तो जन्म-जन्मान्तर इन मृत महापुरुषों की पूजा—भक्ति में बीत जाते हैं। तौहीद को उसके पुनर्जागृत करने वाले के शिष्यों ने ही दफना दिया।

६. भारत में प्रवेश के बाद एकीश्वरवादी इस्लाम और अवतारवादी हिन्दुओं के परस्पर सम्पर्क और ऊहा-पोह ने एक नवीन पद्धति का जन्म दिया। पैगम्बर के स्थान पर एक गुरु की कल्पना हुई। ईश्वर को तो निराकार मानते रहे। उसके अवतार और मूर्त्ति सबका खण्डन यथावत रहा पर पूजा के पात्र के रूप में गुरु का स्थान उठ खड़ा हुआ। कबीर ने गाया "निरजीव आगे सरजीव थापै, लोचन कछुव न सूझै।" परन्तु सरजीव की वेदना में मुजस्सिम गुरु के शरीर की पूजा प्रचलित हो गई। गुरु ने कहा कि प्रभु के समझने के लिए मेरा सम्पर्क आवश्यक है। तदन्तर कहा मेरी सेवा सुश्रुषा करो ताकि मैं प्रसन्न—मना तुम्हे प्रभु के मार्ग पर ले चलूं। फिर कहा मेरी पूजा करो। मैं ही तो प्रभू हूं :—

१. 'गुरु-ब्रम्हा गुरु-विष्णु गुरु परम महेश्वरा। तस्म.त गुरु-पदम वन्दे [illegible]' । तब शिष्य ने भी गाया:—

२. पुनि सुमिरौं गुरु वर चरन वाँक्षित–फल दातार ।
अति दुस्तर भव सिंधुतें, जे पहुँचावहि पार ।।

३. परम गुरु राम मिलावन हार,
अति उदार मज्जुल मङ्गल–मय, अभिमत–फल–दातार ।

४. वंदहुं गुरु पद पदुम परागा, सुरुचि सुवास सरस अनुरागा ।
श्री गुरु पद नख मनि गत जोती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हियं होती ।
गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन, नयन अमिय दृग दोष विभंजन ।
[रामायण की प्रस्तावना में तुलसीदास रा० च० भा० दोहा
१ व २ के बीच वालकाण्ड]

५. गुरु के चरन की रज लेके, दोऊ नैयन के बीच अंजन दिया ।
तिमिर मेटि उंजियार हुआ, निरंकार पिया को देख लिया ।।
कोटि सूरज तहां छिपे घने, तीन लोक धनी धन पाय-पिया ।
सत गुरु ने जो करी किरपा, मरि के "यारी" जुग-जुग जिया ।।

गुरु का साहस बढ़ा और उन्होंने भक्त के सामने विकल्पा रक्खा कि अब मुझमें और प्रभु में से एक को चुन लो—उज्जैन स्थित भर्तहरी की गुफा में दो मूर्त्तियें स्थापित हैं । एक तो विष्णु भगवान की है और दूसरी उनके गुरु गोरखनाथ की है । ऊपर यह दोहा लिखा है :—

गुरु–गोविन्द दोनों खड़े काके लागूं पांय ?
धन्य भये गुरु आपने जिन गुरु दियो बताय ।।

गुरु और प्रभु दोनों खड़े हों तो मैं गुरु को चुन लूंगा क्योंकि उन्होंने प्रभु–मिलन का गुर (रास्ता) जो बताया है । कबीर, नानक और दशम गुरु तक उनकी परम्परा तथा दादू, रैदास, वल्लभाचार्य (पुष्टि मार्ग के गुरु), चैतन्य महाप्रभु (पूर्वान्चल के वैष्णव गुरु), अष्ट छाप के कवि गण, रामानन्द और आधुनिक समय में ब्रह्माकुमारी संगठन के दादा गुरु लेखराज, सतसाईं बाबा, रामकृष्ण-परमहंस इसी पंगत में हैं। दिव्य जीवन परिषद के

प्रस्तोता स्वामी शिवानन्द जी की पूजा भी प्रारम्भ हो गई है। उनकी आरती बन गई है। गायत्री महामंत्र के प्रचारक और उपदेष्टा पं० श्रीराम शर्मा ने भी अपने फोटो बनवा कर उनकी पूजा प्रारम्भ करवा दी है। रमन महर्षि, अरविन्द सभी के शिष्यों ने उनकी पूजा प्रचलित करा दी। एक न एक दिन गुरु तो दिवंगत हो ही जाते हैं। भक्तों ने सोचा अब किसकी पूजा करें ? तब इन सम्प्रदायों के प्रमुखों ने ३ विकल्प ढूढ़े। प्रथम तो उनकी मूर्ति गढ़ी। हुगली के तट पर रामकृष्ण मिशन के विशाल मन्दिर बने हैं। वहां पर पुजारी रामकृष्ण (परमहंस) की आदमकद मूर्ति की आरती उतारी जाती है। विवेकानन्द समेत उनके सब शिष्यों की मूर्तियाँ भी बना दी गई हैं। उनकी भी आरती उतारी जाती है। द्वितीय विकल्प यह रक्खा कि उनकी जो कृति या पुस्तक है उसकी पूजा कराई जावे। गुरु के द्वारों अर्थात गुरुद्वारों में श्री ग्रन्थ साहिब को रेशम के वस्त्रों से सजा कर रखते हैं, उस पर चंवर डुलाते हैं और उसकी आरती उतारते हैं। भक्त जन उसी के सम्मुख साष्टांग दण्डवत कर अपना मत्था टेक कर पूजा-कार्य की इतिश्री समझते हैं। गुरु प्राणनाथ की पुस्तक की भी पूजा होती है। तीसरा विकल्प यह था कि गद्दी बना दी गई और जीवित उत्तराधिकारी चुनने की प्रथा जारी रही। हीन-यान बौद्धों में बुद्ध का उत्तराधिकारी बुद्ध लामा बनकर सदा विराजमान रहता है। एक लामा की मृत्यु के क्षण पर ही जो बालक अन्यत्र कहीं जन्मता है उसी को पुनः जन्म बुद्ध मानकर जन्मते ही गद्दी पर बिठा देते हैं। शंकर स्वामी की पीठों पर भी दूसरा व्यक्ति आसन्न हो अपनी पूजा प्रचलित करा देता है। इधर निकट आगरा नगर में राधा स्वामी सम्प्रदाय ने भी यही व्यवस्था रक्खी है कि शब्द ब्रह्म की विशेष लहरों से गुरू जन्म लेता है। और राधास्वामी अनादि शब्द है। प्रभु का प्राकृतिक नाम है। वह अनादि है, अनन्त है। अतः एक गुरू के बाद दूसरा आवश्यक है जिसके शरीर पर ध्यान केन्द्रित करके योग क्रिया की जा सके। गुरू के द्वारा थूके हुये प्रसाद में उसकी विशेष कान्ति आ जाती है, अतः प्रसाद का हलवा उनके थूक से मिश्रित करके ही बांटा जाता है। उनके पाद-प्रक्षालन का पानी

चरणामृत वना के पीने की भी व्यवस्था है। अब तो दो विभिन्न व्यक्तियों द्वारा गुरू होने के दावे के कारण सम्भवतः गद्दी खाली है और मुकद्दमा निर्णयार्थ इलाहाबाद हाईकोर्ट में चल रहा है। तो सस्कृति के उत्थान (?) की विधि यहां तक आ पहुंची है। प्रभु वेचारा तो वहुत दूर छूट गया है।

इन पन्थों की इस प्रक्रिया को कलियुग (अर्थात अपने समकालीन युग) की मुख्य वस्तु देख तुलसीदास ने उत्तर काण्ड में कागभुसुन्डि के मुख से व्यंग्य रूप में अपने एक पूर्व जन्म की कथा का वर्णन करवाया है जब कि वह कलियुग में अवधपुरी में उत्पन्न हुआ था। कलियुग में मनुष्य–कृत सम्प्रदायों के वाहुल्य पर वह लिखते हैं :—

कलि–मल ग्रसे धर्म सव लुप्त भये सदग्रन्थ।
दंभिन्ह निजमति कल्पि कर प्रगट किये वहु पंथ॥ दोहा ॥ [९७ क]
वरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति वंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुं होइ भावा। पंडित सोइ सो गाल बजावा॥
मिथ्यारम्भ दम्भरत जोई। ताकहुं संत कहहिं सव कोइ॥
सोइ सयान जो परधनहारी। जो कर दंभ सो वड़ आचारी॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवत वखाना॥
निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो विरागी॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोई तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
९७ क। १ से ८।

असुभ वेपभूपन धरें भच्छाभच्छ जो खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥ ९८ क॥

हमारे जीवन काल ही में तुलसीदास की यह भविष्यवाणी ठीक हुई दीखती है। इस शताब्दी के ऐसे कुछ प्रयत्नों को हम संक्षेप में कह डालने का लोभ संवरण नहीं कर सकते।

पुरुषों में कृष्ण बनने की लालसा :—

[अ] अब से लगभग १२ वर्ष पूर्व प्रतापगढ़ जिले के ३५ वर्षीय राम कृपालु त्रिपाठी वृन्दावन में वृक्ष पर चढ़कर वंसरी बजाते, उनकी शिष्यायें तालाव में नंगी नहाती थीं, वे कपड़े ले जाते, चेलियां नंगी निकल कर कपड़े माँगतीं। स्त्रियों के साथ जल विहार, वन विहार सब कुछ वही करते जो कृष्णजी के के विषय में भागवत एवं ब्रह्म वैंवर्त में लिखा है। उन्होंने स्त्रियों के साथ अनेकों चित्र खिचवाये थे।

[ब] रामसिंह रावत ने हंस नाम से अपने को अखिल ब्रह्मांडपति कृष्ण, अपनी पत्नि को जग जननी—राधा घोषित किया। मुकुट बांध, वंसरी लेकर वह रासलीला करता था। उसके तीनों बड़े पुत्र अवतार और छोटे पुत्र प्रेमपाल सिंह रावत बाल योगेश्वर बनकर पाश्चात्य वेशभूषा के उपासक मांसादि को पाप नहीं मानते।

[स] निरंकारी बाबा अवतार सिंह मुकुट पहिन कर कृष्ण का अवतार बन गये। अब उनके पुत्र गुरुवचनसिंह भी अवतार हो गये हैं।

[द] महाराष्ट्र के मुसलमान फकीर सांईबाबा ईश्वर के अवतार कर के पूजे जाते हैं।

[य] अब आंध्र में सत्य नारायण राजू नये सांई बाबा हो गये हैं। ये भी ईश्वर के अवतार कहे जाते हैं।

[र] आनन्द मार्ग के प्रवर्तक प्रभात रंजन सरकार (जो आजकल जेल में हैं, जिन पर आठ हत्यायें करने कराने का मुकदमा चल रहा है) केवल मात्र अपने को ही कृष्ण का सच्चा अवतार मानते हैं।

[ल] आचार्य रजनीश अपने को साक्षात ब्रह्म मानने वाले नंगे स्त्री पुरुषों का आदर्श शिविर लगाते हैं और संभोग में योग की प्रेरणा देते हैं।

[व] दादा लेखराज की ओम मण्डली के ब्रह्मकुमारी और ब्रह्माकुमार मिल कर दिव्य सन्देश दे रहे हैं; और सच्ची मुक्ति दिलाने का दावा कर रहे हैं।

[श] वाघवाराम गाडं स्त्रियों के वेश में रहने लगे अपने को राधा का अवतार घोषित कर दिया।

[ह] आगा खाँ और मिर्जा गुलाम अहमद कादियानी मुकुट वांध कर हाथ में वंसरी लेकर अपने को साक्षात कृष्ण का अवतार कहते थे।

[स] अव 'इन्टर नेशनल सोसायटी फार कृष्ण कौन्शेसनैंस' नाम की संस्था स्थापित हुई है जिसका यह दावा हैं कि गत ५ हजार वर्षों से कृष्ण भगवान लगातार अवतार लेते आ रहे हैं, जिसमें कृष्ण, ब्रह्मा, नारद, व्यास चार नाम तो पुराने हैं। शेष ३६ ऐसे हैं जिनका कोई पता हम नहीं बता सकते। ये सब कृष्ण के पीढ़ी दर पीढ़ी अवतार हैं। इस संस्था की शाखायें विदेशों में खोली जा रही हैं।

[क्ष] अवतारवाद की धारणा यह है कि सर्वशक्तिमान ईश्वर ने २३ अवतार तो सतयुग त्रेता द्वापर में ले लिए। अव कलयुग में एक कल्कि अवतार होगा। कुछ वर्ष पूर्व बुलन्द शहर जिले की एक स्त्री ने अपने को कल्कि अवतार बताया। वह बुलुन्द महाराजा के नाम से प्रसिद्ध हो गई। लोगों की भीड़ आने लगी। भविष्य पुराण में ईसा मोहम्मद तथा औरंगजेब आदि वादशाहों को भी अवतार बतामा है। अव श्री वेदप्रकाश एम० ए० (संस्कृत–वेद) शोध छात्र प्रयाग विश्व विद्यालय ने अपनी पुस्तक "कल्कि अवतार और मोहम्मद साहिब" में हजरत मोहम्मद साहिब को चौबीसवां अवतार सिद्ध किया है।

७. गुरु सम्प्रदायों के साथ अद्वैत सिद्धान्त चोली दामन की तरह जुड़ा हुआ है। "तुम स्वयं ब्रह्म हो। अपनी शक्ति तुम भूले हुये हो। उसका भान हो जाना ही मुक्ति है। वह भान गुरु की कृपा से ही होगा। धर्म कर्म स्वाध्याय आदि अन्य सब बातें व्यर्थ हैं।" यदि इनकी चल जाये तो सारा समाज निष्क्रिय हो जावे। दरिया साहब हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध कवि हुये हैं। मुसलमान होते हुये भी वह गुरु–पन्थी हो गये थे। अद्वैत तो सूफियों का भी दर्शन रहा ही है। बस उन्होंने लिख मारा :—

सब जग सोता सुध नहिं पावैं, बोलै सो सोता बरड़ावैं ।
संसय मोह भरम की रैन, अन्ध धुन्ध होय सोते ऐंन ॥
जप-तप संजम औ आचार, यह सब सपने के व्योहार ।
तीर्थ दान जग प्रतिमा-सेवा, यह सब सुपना लेवा-देवा ॥
कहना सुनना हार और जीत, पक्षा पक्षी सुपनो विपरीत ।
चार वरन औ आश्रम चार, सुपना अन्तर सब व्यौहार ॥
षट-दर्शन आदी भेद-भाव, सुपना अन्तर सब दरसाव ।
राजा राना तप बलवंता, सुपना माहीं सब बरतंता ॥
पीर औलिया सबी सयाना, ख्वावमाँहि बरतैं विधिनाना ।
काजी सैय्यद औ सुलताना, ख्वावमाँहि सब करत पयाना ॥
साँख्य, जोग औ नौधा भकती, सुपना में इनकी इक विरती ।
काया कसनी दया और धर्म, सुपने सुर्ग औ बन्धन कर्म ॥
काम क्रोध हत्या पर-नास, सुपना माहीं नरक निवास ।
आदि भवानी संकर-देवा, यह सब सपना लेवा देवा ॥
ब्रह्मा विष्णू दस औतार, सुपना अन्तर सब व्यौहार ।
उभ्दिज सेदज जेरज अण्डा, सुपनरूप बरतै ब्रह्मंडा ॥
उपजैं बरतैं अरु विनसावैं, सुपने अन्तर सब दरसावै ।
त्याग ग्रहन सुपना-व्यौहारा, जागा सो सब से न्यारा ॥
जो कोई साध जागिया लावै, सो सतगुरु के सरनै आवै ।
कृत-कृत विरला-जोग सभागी, गुरमुख चेत सब्द मुख-जागी ॥
संसय मोह भरम निसि-नास, आतम राम सहज परकास ।
राम संभाल सहज धर ध्यान, पाछे सहज प्रकासै ज्ञान ।
जन "दरियाव" सोई बड़भागी, जाकी सूरत ब्रह्म-संग लागी ॥

कैसी भयानक स्थिति है ।

८. अस्तु निर्गुण–सगुण को निराकार और साकार का पर्याय मान कर प्रभु-भक्ति का मार्ग दो धाराओं में प्रवाहित हो गया है । तुलसीदास ने

भी गुरु-वन्दना से ही अपनी पुस्तक प्रारम्भ की है और वहां गुरु की पूजा को साकार पूजा का अंग ही कहा है। यों हम जानते हैं कि गुरु और गुरु-पंथों की गुरु-पूजा शिक्षा के हेतु गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है। मातृमान पितृमान आचार्यमान पुरुषो वेदः। माता पिता आचार्य ही ज्ञान कराते हैं। अपने देश में एक समय गुरुकुल एवं अन्तेवासिन प्रणाली में यह भी अपेक्षित था कि शिष्य गुरु की शारीरिक सेवा करे। संदीपनि के आश्रम में कृष्ण और सुदामा दोनों कुल गुरु की गायें भी चराते थे पर उन गायों का दूध उन्हें भी मिलता था। स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती गुरुवर विरजानन्द की सेवा सर्वतो भावेन करते थे। पर वे Do-The-Boys Hall नहीं थे। न ही वहाँ गुरु की आरती उतारी जाती थी और न उस शारीरिक सेवा का कोई आध्यात्मिक फल था। न ही गुरु ईश्वर का प्रतिनिधि था। इस अर्थ में तो हर गुरु का एक उससे पहले गुरु था और आदि गुरु स्वयं परमेश्वर ही हैं।

सो पूर्वेषामपि गुरुः कालेनावच्छेदात् ॥ योग दर्शन ॥

और उसी आदि गुरु की शिक्षा वेद में संकलित है। वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। ऐसा तो आर्य समाज का तीसरा नियम है। अस्तु गुरु को ही उपास्य देव बनाना तो फिर आत्मा और परमात्मा के बीच तीसरा उपास्य देव ला खड़ा करने की प्रक्रिया मात्र हैं। यह मनुष्यत्व का अपमान है कि एक मनुष्य दूसरे के सामने नत-मस्तक साष्टांग खड़ा है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने बारे में भी स्थिति स्पष्ट कर दी कि ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त जो कुछ कहा गया है, वही मैं कह रहा हूँ। मैं तुम्हारे ही जैसा एक मनुष्य हूं। उन्होंने कहा मेरे मरने के बाद मेरे फूल

किसी खेत में बिखेर देना ताकि कहीं मेरे शिष्य मेरा मजार बनाकर न पूजने लगें और ऐसा ही किया गया। उनके जीवन चरित्र में कोई चमत्कार की घटना उनका महत्व बढ़ाने के लिये हमने नहीं जोड़ी और न कोई उनकी मूर्ति बनाई तथा न कवियो ने उनकी कोई स्तुति और आरती पद्य–मय करके प्रचलित की। हम मनुष्य-पूजा के विरोधी हैं।

महर्षि दयानन्द ने सब बिचौलियों से हमारी रक्षा की और प्रभु के साथ सीधा सम्पर्क (Direct Contact) स्थापित कर दिया और कहा कि प्रातः सायं उसी की शरण में जाकर आताप–पश्चाताप, अनुनय–विनय और धन्यवाद ज्ञापन करो और दृढ़ व्रतों का धारण करो। इस प्रकार सच्चे ब्रह्म–यज्ञ और देव-यज्ञ की पुनस्थापना की [इनके मनन हेतु लेखक की ब्रह्म-यज्ञ और देव-यज्ञ पर प्रथक पुस्तकें पढ़ें।]

कतिपय सज्जन कहते हैं कि स्वामी जी ने इस प्रणाली के खण्डन हेतु कटु प्रहार किये हैं। पर बात ऐसी नहीं है। इस पुस्तक के प्रारम्भ में सन्त सूरदास का निर्गुणोपासकों के प्रति जो खण्डन है, वह किसी मृदुल भाषा में न होकर अत्यन्त कर्ण-कटु है। स्वामी जी महाराज की भाषा में तो पूर्णतया शालीनता का निर्वाह है। स्वयं सगुण पूजा के महापुराण अर्थात् श्रीमद्भा–गवत में बड़ी कड़ी भाषा सगुण पूजकों के लिये प्रयुक्त की गई है:—

यस्यात्मबुद्धि कुणपेत्रिधातुके
स्वधीकलत्रादिषु भौम यजधत्तीर्यंबुद्धिः
सलिलेन कहचित जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः।

[जो वात पित्त कफ आदि तीन मल वाले शरीर में अथवा स्त्री आदि में पर-मात्म बुद्धि रखता है–अथवा मिट्टी से बनी मूर्ति में पूजा–बुद्धि-अथवा पानी में तीर्थ बुद्धि रखता है, वह तो गौओं का चारा ढोने वाला गधा है] श्लोक के पूर्वार्ध में जो आदेश है स्वामी दयानन्द ने वही बलपूर्वक कहा। तुलसीदास ने

साकार राम की पूजा जन–जन में प्रचलित करवा दी। परन्तु रामायण लिखते समय यह समस्या उनके भी सामने आई थी। पहिले तो उन्हें चरित्र नायक चुनना था। कृष्ण पर लिखें या राम पर? और वे मथुरा वृन्दावन गये। विहारीलाल के मन्दिर पर कृष्ण की वह मूर्ति देखी जिसमें उन्हे मोर बनाया गया है और मोर के खुले मुख में सद्यस्नाता–राधा अपना जूड़ा उमेठ कर जल–कणों को उसमें गिराती दिखाई गई है। उसे देख कर तुलसीदास के मुख से यकायक यह चौपाई निर्झरित हुई :—

कहा कहौं छवि आजु की भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक तव नवै जब धनुष वाण लो हाथ॥

ऐतिहासिक कारणों से विपन्न जन समुदाय को पुनर्जागृत करने के लिये श्रृंगारी चरित्र–नायक न चुन कर धनुष–वाण से युक्त वीर पुरुष की ख्याति कथा और विजय–गाथा लिखने का निश्चय तुलसीदास ने वहीं किया था। परन्तु वाल्मीकि की मर्यादा का उलंघन करके महात्मा और वीरात्मा राम को भगवान कह डाला। व्यक्ति–पूजा की यह चरम प्रणीति थी। परन्तु ग्रन्थ प्रवेश करते हुये पहिले (बाल) कान्ड के दोहा २२ व २५ के बीच उन्हे यह विवाद हल करना ही पड़ा :—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा, अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड़नाम दुहू तें, किये जेहिं जुग निजवस निजबूते॥
व्यापक एक ब्रह्म अविनासी, सत चेतन घन आनन्द रासी॥
निरगुन तें एहि भांति बड़नाम प्रभाउ अपार।
कहऊं नामु बड़ राम तें निज विचार अनुसार॥ २३॥

फिर वे कहते हैं कि नाम की महिमा सगुण राम की करनी से तो लक्ष–गुणी अधिक है :—

१. राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी।

२. भंजेउ राम आपु भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू ॥
३. दंडक वन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किये पावन ॥
४. निसिचर निकर दले रघुनन्दन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन ॥
५. सवरीगीध सुसेवकनि, सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल वेद विदित गुन गाथ ॥ २४ ॥
६. राम सुकंठ विभीषन दोऊ। राखे सरन जान सबु कोऊ ॥
नाम गरीव अनेक नेवाजे। लोक वेद वर विरिद विराजे ॥
७. राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रमुकीन्ह न थोरा ॥
नामु लेत सिन्ध सुखाहीं। करहु विचारु सुजन मन माहीं ॥
८. राम सकुल रनु रावन मारा। सीय सहित निज पुर पगधारा ॥
सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रवल मोहदलु जीती ॥

ब्रह्म राम ते नामु बड़ वरदायक वरदानि।
रामचरित सत कोटि महं लिय महेस जियं जानि ॥ २५ ॥

इस प्रकार तुलसीदास ने यह कहा कि मैं तीसरा ही मत प्रस्तुत करता हूं जो कि नाम गान की महिमा का है। और दोहा २५ के आगे की चोपाइयों में उसकी गौरव गाथा गाई है कि नाम के प्रसाद से शंभु, सुक, सनक, नारद, प्रह्लाद, ध्रुव, पवनसुत, आदि चारों युगों और तीनों कालों में जीव मात्र समत गौरवान्वित हुये हैं। स्पष्ट है कि यह नाम राम का नहीं हो सकता। यह तो प्रभु का ओम नाम ही हो सकता है जिसके लिये व्यास ने कहा था :—

तस्य वाचकः प्रणावः।

उसका वाचक ओउम नाम है। नाम का गान तात्पर्य रखता है ईश्वर के विभिन्न नामों की गुण-स्तुति और उन्हे अपने में लाने का प्रयत्न। नाम-जप तोता-रटन्त मात्र नहीं हो सकता है। शर्करा शर्करा रटने से मुख

कदापि मीठा नहीं हो सकता जब तक उसके गुणों का मानसिक चिंतन या उसे मुख से चखा न जावे।

इसका प्रतिपादन तुलसी के समकालीन मुस्लिम कवि "यारी साहब" ने भी यों किया है:—

रसना, राम कहत तैं थाकी।
पानी कहे कहुं प्यास बुझति है,
प्यास बुझे जदि चाखी।
पुरुष-नाम नारी ज्यों जानै,
जानि बूझि नहिं भाखी।

तुलसीदास ने सगुण उपासना का जोरदार खण्डन करके जिस नाम जप प्रणाली की स्थापना की है, वह निराकार उपासना गुणोस्तुति पद्धति ही हो सकती है। मानस लिखते लिखते वे अपनी मूल प्रस्तावना से ही दूर चले गये।

[६]

पूजा की सच्ची पद्धति का पुनरुद्धार महर्षि दयानन्द ने किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आध्यात्मिक क्रान्ति का जो उद्घोष किया उसे अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में ही उन्होंने दिल खोल कर लिख दिया और उसके सार-वत ही उन्होंने आर्य समाज के प्रथम दो नियम रचे :—

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्व शक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

दयानन्द ने बहुदेवता वाद को यह कहकर समाप्त किया कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, काल, यम और अर्यमा उसी एक ईश्वर के पर्यायवाचक है।

नियन्ता होने से उसे ब्रह्मा, पालन करने से विष्णु और संहार करने और फल देने से उसी एक ईश्वर को रुद्र कहते हैं। अध्यक्ष होने से वह इन्द्र, कड़े फल देने से यम और कल्याणकारी होंने से वह शिव है। और यह मत दयानन्द का अपना नहीं है।

कैवल्योपनिषत् में यों आया है :—

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुदस्सशिवस्सोऽ क्षरस्यं परमः स्वराट। स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः। [वही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अक्षर, इन्द्र, काल, अग्नि और चन्द्रमा है।]

पुराणों के दो उद्धरण और देते हैं :—

कूर्म पुराण अध्याय—४

रजोगुणमयं चान्य रूपं तस्यैव धीमतः।
चतुर्मुखः सभगवान् जगत्सृष्टो।
सृष्ट च याति सकल विश्वात्मा विश्वतो मुखः।
सत्त्व गुणंपुपाश्रित्य विष्णु विश्वेश्वरः स्वयं।
अन्तकाले स्वयं देवः सर्वात्मा परमेश्वरः।
तमोगुण समाश्रित्य रुद्रः सहरते जगत्।
एकोऽपि सन्महादेवस्त्रिवासौ समवस्थितः।
सर्गरक्षालयगुणैं निर्गुणोऽपि निरञ्जनः।

[उन शक्तिमान भगवान का रजोगुण में चतुर्मुख रूप है। वह चतुर्मुख जगत की सृष्टि करने लगा। विश्वश्वर आप ही सत्त्वगुण का अवलम्बन कर विश्वमुख विश्वात्मा विष्णु रूप से उत्पन्न हुये समस्त लोकों का पालन करते हैं। प्रलय काल में वे ही तमोगुण का आश्रय करके रुद्र रूप से सारी सृष्टि का संहार करते हैं। वे महादेव एक ही होने पर भी त्रिविध रूप

से विराजमान हो सृष्टि, स्थिति और प्रलय इन तीनों गुणों से त्रिविधि हुये]। यही विचार अग्नि पुराण के सर्गानुशासन अध्याय में मिलता है:—

सृष्टिस्थि त्यन्तकरणाद ब्रह्मविष्णु शिवात्मिका: । सन संज्ञा याति भगवान एक जनार्दन: । ब्रह्मत्वे सृजते चैव विष्णुत्वे याति नित्यश: । रुद्रत्वे चैव संहर्त्ता एको देवस्त्रिधां स्मृत: ॥

[केवल एक ही जनार्दन भगवान सृष्टि स्थिति और प्रलय करते हैं, इसी से ब्रह्मा, विष्णु महेश यह उनकी तीन संज्ञायें हैं। एक वे ही तीन रूप से अर्थात ब्रह्म रूप से सृष्टि-सृजन, विष्णु रूप से स्थिति (पालन) और रुद्र रूप से सहार करते हैं।]

[१०]

दयानन्द ने कहा कि मेरे और मेरे ईश्वर के बीच और किसी बिचौलिया (Middle Man) की आवश्यकता नहीं है। मेरा मेरे प्रभु से सतत साक्षात सानिध्य है। इस सीधे प्रजातन्त्रवाद में बिचौलिया के रूप में किसी अवतार, तीर्थंकर, पूर्ण-पुरुष, प्रभु-पुत्र, सन्देशवाहक या सतगुरु की आवश्यकता नहीं है।

मूर्त्ति पूजा

श्वेताश्वर उपनिषद में एक श्लोक आया है:—

शिवामात्यनि पश्यन्ति, प्रतिमास्तु न योगिन: ।
आत्मास्थं य: परित्यज्य बहि: स्थं भजते शिवं ॥
हस्तस्थं फलमुत्सृज्य, लिह्यात् कूर्यक्ष्मात्मन: ।
सर्वत्रास्थितं शान्तं, न पश्यन्तीह शंकरम् ।
ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वादन्ध: सूर्यं इवोदितम् ॥

इस पर शंकर स्वामी यों भाष्य करते हैं:—

[योगी लोग परमेश्वर को आत्मा में देखते हैं मूर्तियों में नहीं। जो आत्मा

में स्थित प्रभु को छोड़कर बाहर उसकी पूजा करते हैं उनकी उपमा उनसे दी जा सकती है जो हाथ में स्थित योग्य पदार्थ को छोड़कर अपनी कोनी को ही चाटने लग जावें।]

दयानन्द ने उदघोष किया कि जब चैतन्य बिचौलिये की पार्थिव पूजा अभिप्रेत नहीं है तो निर्जीव काष्ठ, लौह, प्रस्तर के रूप में कोई प्रतीक और कल्पित आराध्य देव भी साधन के रूप में प्रभु मिलन के लिये अपेक्षित नहीं है। तुम शीघ्र ही साधन को साध्य समझकर उसी की पूजा और शृंगार में मस्त होकर अपनें जीवन के क्षण समाप्त कर बैठोगे।

अ—जो पाथर को कहते देव, तिनकी निष्फल खाने सेव।
कबीर के उक्त दोहे का श्रोत पूर्व वाङ्मय में ही है।

अचेतना सत्यायोग्यान्यनुपास्यन्यफलत्व विपर्ययाभ्याम्।
छान्दोग्योपनिषद के भाष्य में संकर्पण सूत्र पर लिखते हुये मांध्वाचार्य महाराज ने उक्त वाक्य लिखा है—जो अचेतन (जड़) असत्य और अयोग्य है, उसकी उपासना का कोई फल नहीं होता, वरन् उससे हानि होती है।

ब—पत्थर पीवे धोय के, पत्थर पूजे प्रान।
अन्तकाल पत्थर भये भव डूबे अज्ञान ।।
—दादू

दरिया बौरे जगत को, क्या कीजे समझाय।
रोग बीसरे देह में, पत्थर पूजन जाय ॥
—दरिया

इन सन्तों ने जो पत्थर पूजा का खण्डन किया है, अथवा "अजब हैरान हूँ वाले" आर्य-भजन में जो भाव अभिप्रेत हैं उसके आदि प्रस्तुत कर्त्ता तो स्वयं आदि शंकराचार्य हैं :—

स्वामी शंकराचार्यकृत "परापूजा" से

पूर्णस्यावाहन कुत्र सर्वधारस्यचासनम् ।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यः च शुद्धस्याचमनम् कुतः ॥
निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रविश्वोदरस्य च ।
अगोत्रस्य त्ववर्णस्य कुतस्तस्योपवीतकम् ॥
निर्लेपस्य कुतोः गन्धः पुष्पं निर्वासनस्य च ।
निर्विशेपस्य का भूपा कोऽलंकारो निराकृतेः ॥
निरञ्जनस्य किं धूपैर्दीपैर्वा सर्वसाक्षिणः ।
निजानन्दैकतृप्तस्य नैवेद्य किं भवेदिह ॥
विश्वानन्दमितुम्तस्य किं ताम्बूलं प्रकल्पते ।
स्वं प्रकाशचिद्रूपो योऽसावर्कादिभासकः ॥
प्रदक्षिणाह्यनन्तस्य ह्यद्वयस्य कुतो नतिः ।
वेदवाक्यैरवेद्यस्य कुतः स्तोत्रं विधीयते ॥
स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विभोः ।
अन्तर्वहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ॥

कहा जाता है कि शंकराचार्य जी महाराज जब बद्री केदार पहुंचे और वहां प्रभु की रचना का सुन्दरतम रूप देखा तो आनन्द विभोर हो गये और जिस ज्योतिर्लिङ्ग की उपासना करने गये थे उसी के सम्मुख खड़े होकर कहने लगे कि मैने अनेक पाप किये हैं और महान भूलें की हैं, उन्हीं का परिमार्जन कर डालना चाहता हूँ—वे भूलें प्रभु की मूर्त्तिमान, मूर्ति पूजा हेतु बद्री केदार आकर की हैं। क्योंकि :—

१. जो पूर्ण है उसका आह्वान कहां किया जावे ?
२. जो सबका आधार है उसे किस वस्तु का आसन दिया जावे ?
३. जो स्वच्छ है उसके पाद्य और अर्घ्य क्या है ?
४. जो नित्य शुद्ध है उसे क्या आचमन दें ?

५. निर्मल को स्नान किस लिये ?

६. सारा ससार जिसके पेट में है, उसके लिये वस्त्र कैसा ?

७. जो वर्ण गोत्र रहित है, उसे यज्ञोपवीत कैसा ?

८–११. निर्लेप के लिये गन्ध, निर्वसन के लिये पुष्प, निर्विशेष के लिये भूषण और निराकार के लिये अलंकार का क्या प्रयोजन ?

१२–१४. निरन्जन को धूप, सर्वसाक्षी को दीप, स्वानन्द में तृप्त को नैवेद्य से क्या प्रयोजन ?

१५. विश्व को आनन्द देने वाले और स्वप्रकाश रूप सूर्यादि को प्रकाश देने वाले चिद्रूप के लिये ताम्बूल क्या ?

१६–१८. अनन्त की परिक्रमा अद्वितीय को नमस्कार, वेद वाक्यों से भी अवेद्य का स्तवन कैसे हो ?

१९–२१. जो स्वयं प्रकाशमान विभो है उसकी आरती कैसी ? जो अन्दर बाहर सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है उसका विसर्जन कैसा ?

इन २१ शंकाओं में मूर्त्तिपूजा का अभूतपूर्व खण्डन हैं। परन्तु आश्चर्य इतना ही है कि तथापि शंकराचार्य जी यावज्जीवन मूर्ति पूजा कैसे करते रहे। चारों धामों पर जो चार पीठ निर्मित कीं, उनमें भी प्रतिमायें स्थापित की गईं और स्तोत्र रचे गये। इसके दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो शंकराचार्य की दार्शनिक स्थिति में व्यावहारिक सत्य और नित्य सत्य में भेद होता है। उनका अद्वैत दर्शन तो स्वयं ईश्वर को जग की झूठी माया से आवृत्त करा के लीला करवाता हैं। सम्भवत: यह मूर्ति पूजा उसी माया की कृति हैं। अथवा यों हो सकता हैं कि दाक्षिणात्य देश की मूर्ति–पूजा को पुश्तैनी विरासत समझ कर उसे बुद्धि और तर्क से परे होते हुये भी उसी प्रकार जिन्दा रखना चाहते थे जैसे हजरत मुहम्मद जबरदस्त एकीश्वर-वादी होते हुये भी संगे असवद को मक्का के शिवालय से न हटा सके यद्यपि उन्होंने मन्दिर का नाम मस्जिद रख दिया और अरब देश में स्थित सारे बुत

तुड़वा डाले। जो भी हो दयानन्द ने मान्यता और व्यवहार में अन्तर नहीं आने दिया। जो तर्क से सिद्ध था और आप्त वाक्यों से सु-प्रमाणित था, उसी का उद्घोष किया और उसी को माना एवं उसी हेतु पाखण्ड–खण्डिनी पताका को उठाया।

वेद के निम्न उद्घोष की डिमडिम उन्होंने बजाई :—

न तस्य प्रतिमास्ति यस्यनाम महद्यश: ।
हिरण्यगर्भं इत्येषमा या हि ', सी दित्येषा
यस्मान्न जातऽइत्येष: ॥ यजु० ३२–३ ॥

जो अजन्मा है, सृष्टि का गर्भवत कारण है, उसकी प्रतिमा कैसी ? जो लोग कहते थे कि प्रतिमा पूजन एक ध्यान लगाने की सोपान है उनकी सेवा में मात्र २ सूत्र ऋषि ने प्रस्तुत किये :—

१. ध्याने निर्विषयं मन: । योग दर्शन।

[ध्यान में तो मन निर्विषय होना चाहिये। अर्थात उसमें जो कुछ भी इन्द्रियों द्वारा भेजा विषय भरा है, उसे निकालना अभिप्रेत है, न कि उसमें साकार पदार्थ के दृष्ट गुण (आकार–श्रृंगार) लाकर भरना] ।

२. युगपदज्ञानानोंत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् ॥

[मन का यह गुण है कि उसमें एक समय में एक ही भाव रह सकता है।] [योग दर्शन]।

अस्तु यदि मूर्ति सम्बन्धी भाव रहा तो प्रभु के गुणों का भाव नहीं रहेगा और यदि प्रभु सम्बन्धी भाव रहा तो मूर्ति सम्बन्धी भाव की गुंजायश ही कहां है ?

हर कर्म के संस्कार बनते रहते हैं। वे संस्कार फिर अपना प्रस्फुटी–करण चाहते हैं। मूर्ति पूजा–जन्य संस्कार अगली सीढ़ी चढ़ने पर कदापि छूट नहीं सकते।

[११]

अग्नि–वायु–सूर्य–जल की पूजा

वैदिक मन्त्रों में अग्नि व वायु की प्रशंसा की गई है क्योंकि वे मानव के सुख का पार्थिव मूल हैं।

"अग्नि"

अग्निमीडे पुरोहितम् यज्ञस्य ऋत्विजम् होतारम् रत्नधातमम्।

यह प्रथम वेद ऋग्वेद का प्रथम मंत्र हैं और अग्नि के गुण बखानता है। उसके माध्यम से यज्ञ प्रक्रिया होकर सुगन्धि फैलती है। वर्षा के पर्जन्य बनते हैं। वायुमन्डल में खाद बनती है। सब अन्न पकते हैं। पृथ्वी के अन्तर्गत परिवर्तन होकर रत्न बनते हैं। कारबन में अथाह कैलोरी अग्नि देकर ही हीरे बने हैं। रत्नगर्भा पृथ्वी के अन्दर धातुओं का निर्माण अग्नि ही से होता है।

"सूर्य"

तरणि विश्व दर्शतो ज्योतिष्कंदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनं।

यहां सूर्य के कारण प्रकृति में निम्न परिवर्तन होना बताया है :—

तरणि=रंग (VIBGYOR)क्रम में रंगों का मूल सूर्य किरण ही है।
दर्शतो=प्रकाश का श्रोत
रोचनं=विश्व का रोचक लगना
ज्योति=गर्मी (Heat का मूल श्रोत)

"वायु"

वायवाहि दर्शते मे सोमा अरं कृताः तेषां पाहि श्रुधोहवम्॥

ऋग्वेद मंडल—१ सूक्त ८—मंत्र—१

वायु में चलन शीलता की गति है। वायु वह Medium है जिसमें होकर प्रकाश व शब्द फैलते हैं। वायु में लहरें उठ कर शक्ति को इधर उधर ले जाती हैं। वायु में ही प्रकाश की किरण शून्य से प्रथम प्रवेश करती है, और वह किरण कुछ झुक जाती है। वायु से ही सोम लतावल्ली प्राण पाती हैं।

"जल"

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान द्वेष्टि यञ्चवयं द्विषमः। यजु० ३६।२३।

[हे सर्व मित्र सम्पादक ! आप की कृपा से प्राण और जल तथा विद्या और औषधि हम सब लोगों के लिए सदा सुखदायक हों, कभी प्रतिकूल न हों। परन्तु जो हमसे द्वेष करता हो और जिससे हम द्वेप करते हों, उस द्वेष भाव के रोग को यह शीतल जल ठंडा कर दे]

जल औषधि है। जल से क्रोध और द्वेषभाव शान्त होता है। "कूने" ने तो जल से ही सारी बीमारियों के शमन की पूरी चिकित्सा पद्धति रच डाली है।

"विद्युत (पूषण)"

पूषन् एक जनषे यम सूर्य प्रजापत्य व्यूह रस्मीन समूह।
यत ते रूपम् कल्याणतमम् तत् ते पश्यामि असौ पुरुषः असौऽहमस्मि॥
यजु० ४०।१६।

ऐ विद्युत ! तू ही प्रजापति सूर्य की रश्मियों को खींच कर पृथ्वी पर लाती है। दक्षिण दिशा की ओर तेरी किरणें (Lines of Force) सतत प्रवाहित हैं। तेरे माध्यम से रूप की किरणें (Rays of light) भी प्रवाहित हैं। प्रकाश, विद्युत और गति एक दूसरे में परिवर्तनशील हैं। तेरी इन

शक्तियों को मनुष्य के लिये सर्वोत्कृष्ट कल्याण से युक्त अर्थात लाभप्रद बनाना है। तुझ को ऐसा करके मानने वाला वह पुरुष मैं हूं। अर्थात· विद्युत को जन कल्याण में प्रयुक्त करने का मैं व्रत लेता हूं।

पृथ्वी

अथर्व वेद। पृथिवी सूक्त।

यस्य श्चतस्रः प्रदिश· पृथिव्या
यस्यामन्नं कृष्टयुः संवभूवुः।
या विर्भात बहुधा प्राणदेजत्
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ मंत्र—४ ॥
विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा
हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं विभ्रति भूमिरग्नि
मिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ मंत्र—६ ॥

पद्यानुवाद

जिसकी उत्तम चार दिशाओं से सब लोक पुनीत हुये।
जिसमें सुन्दर अन्न और शुभ मानव कुल संभूत हुये।
सदा प्राणियों का होता है जिसमें भरण और पोषण।
हम सब को वह भूमि सदा दे मीठे अन्न और गोधन।
विश्व भरण करने वाली, वसु को धारण करने वाली।
सदा प्रतिष्ठित, जगत निवेशिनि, सोने की छाती वाली।
वैश्वानर का और अग्नि का नित पालन करने वाली।
इन्द्र प्रिया वह भूमि, करें हम सुख सम्पत्तिशाली।

यह प्रार्थना किसी एक देश की भूमि के लिये नहीं है। हर देश का निवासी अपनी मातृ-भूमि के प्रति ही नहीं सारी पृथ्वी के लिये ऐसा कह सकता है। मैं इस सारी पृथ्वी का पुत्र हूं क्योंकि यह अन्न जल का पान कराती है।

सवै भूमि गोपाल की जामै अटक कहा।
जाके मन में अटक है सोई अटक रहा॥

यह अन्तर्राष्ट्रीयता का उपदेश है। और सकल पृथ्वी से भोग पदार्थ—कृषि जन्य एवं उसके अन्तर में बसे स्वर्णादिक धातु, प्राप्त करने की आज्ञा है।

राष्ट्रीयता और स्वस्व देशस्थ भूमि की पवित्रता मान कर जो देश-भक्ति उत्पन्न की गई है वह तो राष्ट्रीय ईर्षा-द्वेष की जनक होकर युद्धों और महायुद्धों का कारण बनी हैं। अस्तु राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता दोनों में तालमेल रखना आवश्यक है। निज जन्मभूमि की अतिशय पूजा भी वर्जित होनी चाहिए। कोई राष्ट्र या कहीं की भूमि या राष्ट्रीय विरासत स्वर्गीय नहीं है। भारत में हिमालय, विन्ध्याचल प्रभृति पर्वत, गगा, यमुना और कावेरी सदृश नदियों और प्रयाग एवं रामेश्वरम् प्रभृति नगरों को पूज्य बताया है। सो मात्र देशभक्ति के कारण।

लंका विजय के उपरान्त लक्ष्मण ने राम से कहा था कि भाई अब यहीं बस कर राज्य भोग किया जावे—पता नहीं १४ वर्षों में भरत के क्या विचार बने हों। तब रामायण-कार महर्षि वाल्मीकि ने रामचन्द्र जी के मुख से यह कहलवाया है:—

यद्यपि स्वर्णमयी लंका तदपि न मे रोचते लक्ष्मण।
जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

यहां रामचन्द्र जी जन्म भूमि अवध को स्वर्ग से बढ़कर बताते हैं। पर उसकी पूजा स्तुति कहीं नहीं की है। कालान्तर में रामचरित मानस में तुलसीदास जी वन से विमान द्वारा लौटने पर सुरसरि-गंगा, तीर्थराज-प्रयाग और सुहावनी अवधपुरी की वन्दना करते दिखाये गये हैं:—

पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रनाम करु सीता ॥
तीरथपति पुनि देखि प्रयागा। निरखत जन्म कोटि अघ भागा ॥
देखि परम पावन पुनि बेनी। हरनि सोक हरि लोक नसेनी ॥
पुनि देखि अवधपुरी अति पावनि। त्रिविध ताप भय रोग नसावनि ॥
[लंकाकाण्ड दोहा ११६ चौ० ५ से ६]

विष्णु पुराण [२।३।२४] में यों गाया गया है:—

गायन्ति देवाः किल गीतिकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद हेतु भूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

देवता भी भारत भूमि में पुनः जन्म पाने की कामना करते हैं, क्योंकि यहां की भूमि और जलवायु ही मोक्ष की ओर प्रेरित करते हैं।

गंगा की प्रशंसा में कहा है कि जो शत योजन दूर से भी गंगा का नाम लेता है, वह सब पापों से तर कर सीधा मोक्ष को जाता है।

लंदन में थेम्स नदी को और फ्रान्स में ऐल्ब और जर्मनी में डैन्यूब को ऐसा ही पूज्य कहा गया है। परन्तु ईश्वर की विशेष कृति इनमें से कोई नहीं है। इनकी प्रशंसा की जा सकती है; पूजा और आरती एवं अर्चना नहीं। कोई कुछ भी कहे इनकी पूजा किसी आध्यात्मिक उपलब्धि का साधन कदापि नहीं है। न वह पाप–हर है, न आत्मिक-उन्नयन की सोपान। यदि उनके जलों में वैपिट्य है तो वह रोग हर सकता है, पर ईश्वर सानिध्य का कारण वह कदापि नहीं हैं। देशभक्ति और ईश्वर भक्ति एकार्थक नहीं है। सच्चा

ईश्वर भक्त तो अन्तर्राष्ट्रीय ही नहीं, सब लोकों के सब लोगों और पशुपक्षी तक के सुख की कामना कर कहता है––सर्वेभवन्तु सुखिना, सर्वे सन्तु निरामय। हां, इन पार्थिव देवों का उपयोग करना तो सर्वत्र अवश्य लिखा है, इनकी वन्दना करना नहीं। इन्हें तो भृत्यवत काम में लाना चाहिए। कुछ सम्प्रदायों में (जैसे पारसियों में) अग्नि, वायु, जल (सर या कूप या समुद्र) की पूजा का प्रचलन है। भला इन अचेतन पदार्थों की पूजा कैसी? इनकी की हुई पूजा को तो ये स्वयं नहीं समझते हैं–अस्तु यह निरर्थक ही हुई।

[१२]

हाँ वेदों में तथा अन्य वाङ्मय में अग्नि वायु आदि की यत्र-तत्र स्तुति आई अवश्य है। परन्तु जहाँ वह पार्थिव अर्थ में जग में प्रयोगात्मक विधि दर्शाती है, वहां अध्यात्म में, (चूंकि वह आध्यात्मिक कृति है) उसके शाब्दिक अर्थ प्रभु परक हैं—जैसी कि उनकी व्युत्पत्ति व्याकरण से है। इस गुत्थी को भी महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सुलझा दिया है। एक ऐसे ही स्तुति मन्त्र पर स्वामी जी महाराज का अन्वयार्थ हम आर्याभिविनय से उद्धृत करते हैं:—
[द्वितीय प्रकाश मंत्र क्र० ४]

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म आपः स प्रजापतिः।
[यजु० ३२।१]

"जो सब जगत का कारण एक परमेश्वर है उसी का नाम अग्नि है।
[ब्रह्म ह्याग्निः शतपथे–१।५।१।११]।

सर्वोत्तम ज्ञान स्वरूप और जानने के योग्य, प्रापणीय स्वरूप और पूज्यतमेत्यादि अग्नि शब्द के अर्थ हैं।

जिसका कभी नाश न हो और स्वप्रकाश स्वरूप हो, इससे परमात्मा का नाम आदित्य है। [आदित्यो वै ब्रह्म–शतपथब्राह्मण ७।४।१।१४]

सब जगत का धारण करने वाला, अनन्त बलवान, प्राणों से भी जो प्रिय स्वरूप है, इससे ईश्वर का नाम वायु है। [वायुर्वै ब्रह्म]। जो आनन्द स्वरूप और स्वसेवकों को परमानन्द देने वाला है, इससे पूर्वोक्त प्रकार से चन्द्रमा परमात्मा को ही जानना। [चन्द्रमा वै ब्रह्म-ऐतरेय २।४१]।

'तदेव शुक्रम्"—वही चेतन स्वरूप ब्रह्म सब जगत का कर्ता है। [शुक्रं हि ब्रह्म]। "तद्ब्रह्म" सो अनन्त चेतन सबसे बड़ा है। और धर्मात्मा स्वभक्तों को अत्यन्त सुख विद्यादि सद्गुणों को बढ़ाने वाला है। "ता आपः" उसी को सर्वत्र चेतन सर्वत्र व्याप्त होने से "आपः" नामक जानना। [आपो वै प्रजापतिः। शतपथ ब्राह्मण—८-२-३-१३]।

"स प्रजापतिः" सो ही सब जगत का पति (स्वामी) और पालन करने वाला है, अन्य कोई नहीं।

उसी को हम लोग इष्ट-देव तथा पालक मानें, अन्य को नहीं॥"

फिर इनकी भी शक्ति का श्रोत स्वयं एक ईश्वर ही है। यह समस्या स्वयं वेद ने आदि सृष्टि में हल कर दी थी:—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्राह्मणे नमः।
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्रे आस्ये तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।
यस्य वातः प्राणयानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।

[अथर्व वेद १०।७।३२ से ३४ तक]

अर्थात् भूमि उस ब्रह्म की पादस्थानी, अन्तरिक्ष ऊपर के समान, द्यु मस्तक के समान, सूर्य और चन्द्र जिसके नेत्र हैं, अग्नि जिसका मुख, वायु जिसके प्राण

अपान, प्रकाश किरण नेत्रवत और दिशायें व्यवहार बताने वाली हैं। उस सबसे बड़े ब्रह्म को ही पूजें—नमस्कार करें।

यह बात बड़े मनोरंजक ढंग से केनोपनिषद में वर्णित है कि एक बार इन अग्नि, वायु एवं जल की शक्तियों को गर्व हो गया कि हम ही इस सृष्टि का संचालन करते हैं। तब प्रभु ने यक्ष बनकर इनकी परीक्षा ली और क्रमशः तीनों के सामने एक तिनका रखा कि इसे जलाओ, उड़ाओ या बहाओ; जैसा कि तीनों शक्तियों अग्नि, वायु एवं जल का गुण है। पर वे तिनके को हिला तक न सके। तब ऋतं—भरा—प्रज्ञा बुद्धि ने उन्हें समझाया कि तुम्हारी शक्ति का आदि श्रोत तो स्वयं यह परीक्षक था। इसने तुम्हारी शक्ति छीन ली। तब तुम निर्वीर्य हो गये। कुछ न कर सके। उपनिषद ने बार-बार यही कहा कि "नेदम् यदिदम् उपासते।" इन पार्थिव पदार्थों की पूजा का प्रकरण ठीक पद्धति नहीं है। शक्ति के आदि श्रोत को ढूंढ़ना चाहिये। यह पार्थिव पदार्थ तो जीवन यापन के लिये हैं।

शं नो वातः पवता ', नस्तुपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु॥
[यजु॰ ३६।१०]

इसका स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्याभिविनय [द्वितीय प्रकाश, मंत्र क्र॰ २२] में यों अर्थ करते हैं—

"हे सर्वनियन्तः हमारे लिये सुखकारक सुगन्ध शीतल और मन्द मन्द वायु सदैव चले। एवं सूर्य भी सुखकारक हो तपे। तथा मेघ भी सुख का शब्द लिये अर्थात् गर्जन पूर्वक सदैव काल-काल में सुखकारक वर्षे। जिससे आपके कृपा पात्र हम लोग सुखानन्द ही में सदा रहें।"

[१३]

मूर्तियों का महात्मय

परन्तु सर्व साधारण को मूर्त्ति की ओर आकृष्ट करने और उसकी पूजा का तारतम्य चलाये रखने में ईश्वर पूजा की बात न कहकर उसकी विभूति और उसके चमत्कारों की किवदन्तियों का प्रचलन लोक-गीत और लोक-कथाओं में कर दिया गया है। इनके विषय में सत्यार्थ प्रकाश में स्वा० दयानन्द सरस्वती ने विशेष और प्रथक प्रथक लिखा है। भारत वर्ष में अत्यधिक माहात्मय की ४ ही मूर्तियां बताई गई हैं। गुजरात प्रान्तस्थ महादेव का लिंग जो पहिले पृथ्वी से ऊपर हवा में स्थित था। इसका कारण इसका धातु का होना और छत्तों में चुम्बकीय लोह का होना था। गजनवी ने जब छत गिरा दी तो यह चमत्कार समाप्त हो गया और मूर्ति पृथ्वी पर आ टपकी। जगन्नाथपुरी में काठ की मूर्ति का सृजन प्रति तृतीय वर्ष होता था और उसकी प्राण प्रतिष्ठा के समय पूर्व स्थापित लोह के लिंग पर चढ़ाये हुये दूध का चरणामृत पान राजा, बढ़ई (मूर्ति-निर्माता) और पूर्व कार्यवाहक करते थे और वे मर जाते थे। १९१२ के लगभग राजा विलायत से शिक्षा प्राप्त कर के आया था। उसका एक इंगरेज मित्र अचानक इस पर्व से ८ दिन पूर्व अतिथि बन कर आ गया। उसने मित्र को शान्त व उदासीन पाया। कारण पूछने पर उसने बताया कि मेरा मात्र ८ दिन जीवन शेष है। ८ वें दिन मैं चरणामृत पान करूंगा और देव मुझे स्वर्ग में बुला लेगा। इंगरेज मित्र ने देवता के दर्शन की आज्ञा चाही, पर अहिन्दू होने से आज्ञा न मिली। वह किसी प्रकार रात्रि में वहां जाकर मूर्त्ति का सूक्ष्म निरीक्षण करने लगा। दूसरे दिन उसने राजा से कहा कि आज ही उस मूर्ति का धोवन मंगाओ। मैं पान करूंगा। धोवन आ गया और विज्ञान के ग्रेजुएट ने उसको टैस्ट करके बताया कि उसमें विष था। धातु निर्मित उस धातु पर विष की पर्तें हैं। तुम निर्दिष्ट धोवन को उसी तिथि पर पहिले पुजारी को पीने को कहना। उस दिन पुजारी ने पीने से मना कर दिया। तब राजा ने सब भेद खोला। वह राजा अभी जीवित है। ठीक यही बात स्वामी जी महाराज ने पुरी की प्रथा के बारे में १९ वीं शताब्दी में सत्यार्थ प्रकाश में लिख दी थी।

उदयपुर और चित्तोड़ के मार्ग में महाराणा प्रताप के परिवार के मन्दिर हैं। कुल देवी के सामने शिशौदिया कुल के सस्थापक रांना सांगा की आदमकद मूर्त्ति हाथ जोड़े खड़ी है। नीचे नंदी बना है। मुझे बताया गया कि इस बैल की मूर्त्ति में स्वयं औरंगजेब ने प्रहार किया तो उसके अन्दर से भौंरों ने निकल कर सुल्तान और उसके साथियों को स्थान स्थान पर काटा। सुल्तान इसे दैवीय विपत्ति समझ कर लौट पड़ा। पर इसमें तो अवसर की बात है। पत्थरों के छेदों में भौंरे छत्ते रख ही लेते हैं।

इस प्रकरण में भारत वर्ष के सर्व श्रेष्ठ और धनाढ्य मन्दिर तिरुपति के बाला जी का उल्लेख करना आवश्यक है, जिनके दर्शन के लिये ७।।) से लेकर ५००) तक का टिकिट खरीदना होता है। पार्श्व में एक कमरे में कपड़े का वितान है। जिसे हुन्डी कहते हैं। कपड़ा नीचे के कमरे में बीच से जाता है ताकि इसमें डाला दान नीचे के कमरे में पहुंच जाता है। इसमें कई लाख रुपये का प्रतिदिन दान आता हैं। लगभग ५००० यात्री नित्य पहुंचते हैं। पर ऐसा निर्देश है कि इस वितान में वे ही रुपया डालें जिनकी इच्छा पूर्ण हो चुकी हो और जो इच्छा वे अपने वहां पूर्व आगमन के समय मनौती कर गये हों।

मैंने अनेकों हुन्डी डालने वालों से पूछा और प्रत्येक ने कहा कि वह गत वर्ष कुछ मांग गया था और उसकी इच्छा पूरी हो चुकी है। वहीं के एक विद्वान पुजारी से मैंने शंका की कि ऐसा क्यों कर होता है। अचेतन मूर्ति चेतन पुरुप की चेतन इच्छायें कैसे पूरी कर देती है? वह एक विद्वान पुरुप था। गणित में एम० ए० पास था। उसने मेरी शिक्षा-दीक्षा के विषय में पूछने के उपरान्त बताया कि यह Theory of Probability सम्भावना की थ्योरी का चमत्कार है। पाठक इसे समझ लें।

एक हाल में बिल्ली बन्द हो गई। उसमें दो छेद थे। तो एक छेद में से बिल्ली के निकलने की सम्भावना $\frac{1}{2}$ अर्थात ५० प्रतिशत है। यदि तीन

छेद होते तो $\frac{1}{6}$ होती। इसी प्रकार हर व्यक्ति की इच्छा या तो पूरी होगी और या नहीं। दो ही विकल्प हैं। अतः सम्भावना $\frac{1}{2}$ हुई। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बालाजी या किन्हीं जी की कृपा हुये बिना ही आधे यात्रियों की इच्छा स्वमेव ही पूरी हो जावेगी। आधों की नहीं। वे प्रथम आधे लौटकर बालाजी आवेंगे ही क्योंकि मनौती मनाते समय यह वचन लिया जाता है। शेष आधे जो असफल होते हैं, लौटकर नहीं जाते हैं। पर जाने वाले आधे लौटकर सत्य भावना से बालाजी के माहात्मय का डिंडिन–घोष करते हैं। और नये लोग आकृष्ट होते हैं। इस प्रकार ५००० दैनिक यात्रियों का क्रम सदा बना रहता है और हुन्डी में वे ही लोग शत प्रतिशत पाये जाते हैं जिन की इच्छा पूर्ण हो चुकी होती है। पुजारी ने समझाया कि हम तो सम्भावना की थ्योरी का खाते हैं।

हमारे देश में राजस्थान में एक बालाजी और हैं जहां निसंतान स्त्री–पुरुष सन्तान का वर्दान प्राप्त करने जाते हैं। कहीं पर रोग–शान्ति की दुन्त कथा प्रसिद्ध है। पर इन सब स्थान—माहात्मयों में गणित का उपरोक्त वैज्ञानिक सिद्धान्त लागू है। रोम, फ्रान्स, जर्मनी, पैलेस्टीन, मक्का सब जगह यही कहानियां प्रसिद्ध हैं। कहीं राख बाँटते हैं। अजमेर में पर्वत के ऊपर की दरगाह में बताते हैं कि हजरत अली दफनाये गये हैं। और हर दर्शक को राख खाने को देते हैं कि इससे सब रोग दूर हो जावेंगे। रोम में ऐसे तालाब हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि स्थान स्थान पर अर्द्ध–बुद्धि या निर्बुद्धि मनुष्यों का मन हरने के लिये माहात्मय की झूठी किवंदन्तियां प्रचलित कर दी हैं। इन सब में कोई सार नहीं है। निर्जीव पदार्थ किसी का कुछ नहीं बना सकता है। और कुछ बिगाड़ना तो नितान्त असम्भाव्य है। यदि किसी मूर्त्ति में ऐसा प्रभाव होता तो मूर्ति भंजक मुसलमान विजेताओं की न केवल युद्ध–विजय न हुई होती, वरन् महती विनष्टि हुई होती। पर ऐसा कुछ हुआ नहीं। उलटे काशी, अयोध्या, मथुरा, द्वारिका प्रभृति सब तीर्थ स्थानों पर पवित्रतम मूर्तियों को छिपाकर कुये आदि में रखा गया।

हम इस प्रसंग में ईश्वर से यही प्रार्थना करेंगे कि—

असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।।
मृत्योर्मामृतमगमय ।।।

[१४]

उन्नीसवीं शताब्दी की, दो क्रांतियां

विश्व में दो महान विचारक १९वीं शताब्दीं में ऐसे हुये जो इतिहास के मरुस्थल पर अपनी अमिट छाप छोड़ गये हैं । वे दोनों समकालीन थे । योरूप में मार्क्स और भारत में दयानन्द । मार्क्स ने कहा ईश्वर है नहीं । वह तो मानव ने नशे में आकर स्वीकृत किया है । (Opiate of the People) उसने न केवल मनुष्य की स्वतंत्र कर्त्तव्य शक्ति ही छीन ली वरन उसे मिट्टी आदि से निर्मित घरौंदा वताया । यह घरौंदा गर्भ स्थापन के साथ पैदा होता है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में कालान्तर में सदा के लिये नष्ट हो जाता है और अपने दैनिक क्रिया कलाप में वह प्रकृति-नियति द्वारा निर्धारित एक ऐतिहासिक पद्धति से वंधा हुआ है । [Historical Materialestic Purpose of Universe] वह कुछ भी करने में स्वतन्त्र नहीं है । हां भोग पदार्थों का उत्पादन करने के लिए ही वह वनाया गया है । मार्क्स की क्रांति का उत्तम पहलू मात्र यह है कि उत्पादक और भोक्ता के बीच में मध्यम वर्ग या विचौलिया नहीं चाहिये । इन्किलाव का व्यवहारिक अर्थ यही है और इस इतने अंश से आकर्षित होकर ही आज पृथ्वी तल के आधे राष्ट्रों की सरकारों पर इस दर्शन शास्त्र के मानने वाले बुद्धिवादियों ने बल-पूर्वक अधिकार कर लिया है ।

दयानन्द ने दूसरी ओर यह कहा कि मनुष्य अजर–अमर है । प्रभु ही की भांति वह सदा से है, सदा रहेगा । वह कर्म करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है । उसके कर्मों का प्रवाह किसी नियति या ऐतिहासिक अनिवार्यता से नहीं वंधा है । यह सृष्टि सोद्देश्य है । इसका नियन्ता हैं । जो सबको कर्मानुसार फल देता है । सारी सृष्टि न्याय पर आधारित है । कर्म फलों के कारण विश्व में विभिन्नता है और वैषम्य है । उपभोक्ता और उत्पादक के बीच में

तो देश काल की दूरी के कारण विचौलिया कदाचित वांछित हो, पर आत्मा और परमात्मा के बीच कोई भी विचौलिया अनावश्यक है। ईश्वर प्रत्यक्ष साक्षी और चेता हैं और हर जीव के किये कर्म का प्रत्यक्षदर्शी होने से वह यथोचित न्याय ही करता है। न स्वयं के स्वभाव से और न किसी विशेष विचौलिया की सिफारिश या माध्यम से वह आशीर्वाद देता हैं, न ही श्राप। प्रकृति के पदार्थ प्रभु ने जीव के उपभोग को प्रस्तुत किये हैं। इन्हे परस्पर प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तते हुये काम में लाना चाहिये और इस प्रकार शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करनी चाहिये। प्रत्येक हितकारी कार्य में सब स्वतन्त्र हैं और सामाजिक सर्व हितकारी कार्य में परतन्त्र। सम्भवतः इस क्रांति पर आधारित समाज बीसवीं सदी के अन्त तक बन सकेगा।

[१५]

निराकार की उपासना पद्धति से संसार के मानवों का अतिशय लाभ अपेक्षित है। मनुष्य की परवशता छूट जाती है। दयनीय होकर वह किसी और दूसरे मनुष्य के सामने न कनावड़ा पड़ता है, न कोई भीख मांगता है। उससे क्या मांगे जो स्वयं ईश्वर से मांगता है? सीधे ईश्वर से ही क्यों न मांगे।

दीन हौं दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जासों हौं दीनता कहौं देखौं दीन सोऊ॥

तुलसीदास

निराकार और निरअतार पूजा से मनुष्य और समाज में बल पैदा होता है कि हमारी रक्षा हमने स्वयं अपने श्रम से अर्जित करनी हैं। हमें बचाने ईश्वर कभी प्रगट नहीं होंगे। निराकार पद्धति से समाज में Hero worship नेता की पूजा नहीं फैल पाती। यह प्रजातांत्रिक

समाज के निर्माण में सहायक होती है। निराकार पूजा एक (Universal Police) सर्व व्यापक–पोलिस का डर सर्वत्र उपस्थित करके समाज में भय उत्पन्न कर उसे सुपथ की ओर प्रेरित करती है। निराकार एक आदर्श ध्येय और परिपूर्ण ध्येय प्रस्तुत करता है जिसके साम्य के लिये प्रयत्न-शील होने में जनता का चरित्र निर्माण होता है। पूजा की यह पद्धति आडम्बर रहित है और इसके लिये केवल एकान्त चाहिए। करोड़ों रुपये की पूंजी जो दुनियां अब तक मन्दिरों और उनमें मूर्तियों के निर्माण पर खर्च करती आई हैं वह सब बच गई होती और भविष्य में बचती रहती यदि साकार पूजा का प्रचलन न होता।

[१६]

अब प्राय: यह निर्विवाद है कि बिचौलियों और सगुण पूजा ही के कारण संसार में सम्प्रदाय बने और साम्प्रदायिकता का निर्माण हुआ, उनमें परस्पर शत्रुता बन चली जो कि कालान्तर में भीषण रक्तपात का कारण बनी। यों सब धर्मों और सम्प्रदायों में जो कुछ महत्तम समापवर्त्तक (Highest Common Factor H. C. F.) है—वह मात्र एक सर्व व्यापक निराकार ईश्वर ही है। अनेकान्त विचारधारा जो कि यह कहती है कि सब मार्ग और सब धार्मिक दर्शन और उनके कर्म-कान्ड ठीक हैं—वह तो सब वादों का लघुत्तम समापवर्तक अर्थात (Largest Common Multiple–L. C. M.) है। सबको सब कुछ मानने की स्वतन्त्रता देते हुये उसमें एकत्व अर्थात Unity की खोज करना यह तो वस्तु स्थिति के विपरीत परिस्थिति है। ऐसे प्रयत्न से विश्व में एकरूपता कभी नहीं आवेगी और विभिन्न संस्कृतियां फूलती फलती हुई सदैव परस्पर विलगाव और शत्रुता का निर्माण करेंगी। विश्व संस्कृति का निर्माण नहीं होगा। सब धर्मों में समान भावेन व्याप्त केवल एक ही तथ्य है—और वह है निराकार निर्गुण ईश्वर। बस उसी पर सबको केन्द्रित होकर एक विश्व संस्कृति का निर्माण सम्भव है। निराकार की स्तुति के प्रचलन में ही भारत का तथा विश्व का कल्याण अभिप्रेत है।

दिल्ली दरबार के समय महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सब धर्माचार्यों का सम्मेलन करके यही प्रस्ताव रक्खा था। "सत्यार्थ प्रकाश" ग्रन्थ की रचना का भी यही उद्देश्य उन्होने उसकी भूमिका में लिखा है। यही उनका जीवनोदेश्य था। उनके दर्शाये मार्ग के पथिक हम यावज्जीवन उसकी प्राप्ति में कार्यरत बने रहेंगे। और उन महामना का ही एतद्विषयक उद्धरण उन्हीं की भाषा में यहां पुनः मुद्रित करके इस प्रसून को समाप्त करते हैं।

हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम्॥

यजुर्वेद—१३–४।

इस पर महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का व्याख्यान।
(आर्याभिविनय–अध्याय–२ स्तुति विषय–मंत्र सं–२०)

[जब सृष्टि नहीं हुई थी तब एक अद्वितीय हिरण्य गर्भ (जो सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का गर्भनाम उत्पत्ति–स्थान–उत्पादक है) सो ही प्रथम था। वह सब जगत का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति है। वही परमात्मा पृथिवी से लेके प्रकृति पर्यन्त जगत को रच के धारण करता है। कस्मै प्रजापति जो परमात्मा है, उसकी पूजा आत्मादि पदार्थों के समर्पण से यथावत करें, उससे भिन्न की उपासना लेशमात्र भी हम लोभ न करें। जो परमात्मा को छोड़ के वा उसके स्थान में दूसरे की पूजा करता है, उसकी और उस देश भर की दुर्दशा अत्यन्त होती है, यह बात प्रसिद्ध है, इससे चेते। मनुष्यों जो तुमको सुख की इच्छा हो तो एक निराकार की ही यथावत भक्ति करो।

उपसंहार

हम श्राप और वरदान की पद्धति में विश्वास नहीं करते हैं। पर रामचरित मानस के उत्तर काण्ड में काग भुशुण्ड अपने कथन में अवधपुरी

में जन्म लेने और लोमस ऋषि के आश्रम में जाकर उनसे निराकार और साकार स्तुति पर शास्त्रार्थ करने की कथा गरूण से यों कहता है:—

[१]

ब्रह्म ज्ञान रत मुनि विज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी।
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा।
अकल अनाम अनीह अरूपा। अनुभव गम्य अखंड अनूपा।
मन गोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी।
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। वारि वीचि इव गावहिं वेदा॥

[दो॰ ११०, चौ॰ २–६]

परन्तु काग महाशय की समझ में नहीं आया।

बिविधि भांति मोहि मुनि समझावा। निरगुन मत मम हृदय न आवा।
तब मैं निर्गुन मत कर दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी।

१३–१४

उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा।
पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोलेउ वचन सकोपा।

[१११–१२]

लोमस ऋषि ने तब श्राप दिया.—

मूढ़ परम सिख देउं न मानसि। उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि।
सत्य वचन विश्वास न करहीं। वायस इव सब ही ते डरहीं।
सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। अवसि होहि पच्छी चंडाला।

[१११।१३–१५]

उस श्राप को—

लीन्हं श्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई।

[१११।१६]

तुरत भयऊ मैं काग तव पुनि मुनि पद सिरु नाइ।
सुमिरि राम रघुवंस मनि हरपित चलेउं उड़ाइ ॥

[११२]

सो आपके सामने विकल्प है कि आदमी होना चाहते हैं कि कौआ ?

इत्यलम्

अपील

स्व० पं० लेखराम ने कहा था कि आर्य साहित्य का सृजन सतत होते रहना चाहिये। आप इस लघु-पुस्तिका को बिना मेरी अनुमति के वितरणार्थ छपवा सकते हैं।

जो प्रसून छपकर समाप्त हो गये हैं तथा जो नये पुस्तक भी प्रकाशित होने शेष हैं, उनमें आप आर्थिक सहयोग देकर पुन्य के भागी बनें। हमारा साहित्य पचास प्रतिशत निःशुल्क वितरित कर दिया जाता है। शेष लागत मूल्य पर बिक्री हेतु सुरक्षित रहता है।

लेखक द्वारा लिखित सारा अन्य साहित्य इन्हीं पतों पर उपलब्ध हैं। इसी पते पर आर्थिक सहायता भेजी जा सकती है। धन्यवाद।

(१) बाबूराम गुप्त (मंत्रीजी), पो०—अलीगंज, जिला—एटा (यू० पी०)
(२) यतीन्द्र कुमार गुप्त, २—निर्मलाश्रम, निर्मल छावनी, हरिद्वार।
(३) रमेश कुमारी गुप्त, २२३ खिरनी वाला मैदान, भोपाल—१२

(प्रकाशक)

डिलीवरी नम्बर—M. P. 403
सेवा में श्रीमान—
ग्राम या मुहल्ला— पोस्ट—
जिला— प्रान्त—

दो प्रतिष्ठानों की स्थापना के सम्बन्ध में विज्ञ

१. त्रैतवादीय आर्यपीठ (Chair)—त्रैतवाद ही वेद दर्शन हैं। आर्य-संगठना का महानोद्देश्य उस दार्शनिक-मान्यता एवं प्रसार ही है। सम्प्रति आर्यो ने दर्शन-निर्पेक्ष्य अनेक कार्यों का भार अपने ऊपर एक शताब्दी तक ढ़ोया है। अब मात्र इस मुख्य उद्देश्य में जो अपने चिन्तन-लेखनादि का योग देना चाहें उनके लिये यह पीठ सोत्साह स्थापित किया गया है। चाहे जिस देश, आयु या आश्रम के हों, इस पथ के पथी हो सकते हैं। विधान-निर्माण हेतु सुझाव तथा सदस्य बनने हेतु स्वीकृति पत्र निम्न पते पर आमंत्रित हैं।

—पीठ कार्यवाह

२. सत्यान्वेषिणी सभा भोपाल—कलकत्ता निवास काल में इस सभा का निर्माण करके उसका विधान पंजीकृत (Registered) कराया था। तब से धर्मतल्ला के विशाल मैदान में कीर्त्ति-स्तम्भ के पास सैंकड़ों विभिन्न धर्मी सुधी जन प्रति रविवार को संध्या समय पांच बजे एकत्रित होकर आकाशीय-वितान के ही नीचे बैठकर विभिन्न धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक विषयों पर विचार-परिवर्तन और वाद-विवाद करते हैं। दयानन्द ने कहा था "सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।" यह शाश्वत उद्देश्य आदि में वेद ने घोषित किया था।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये ॥ यजु० ४०।१५ ॥

[सत्य का मुख अन्य आकर्षक वस्तुओं ने ढक रखा है। सत्य धर्म का बोध करने के लिये उस ढ़क्कन को उतार फेंको।] अस्तु उस सभा की शाखा-वत भोपाल में नं० २२३ खिरनी वाला मैदान में बावे सुल्तानी (फाटक) में काठ के पुल पर प्रति रविवार सायं ५ से ६ बजे तक उक्त प्रकार सत्संग प्रारम्भ कर दिया गया है। उपस्थिति प्रार्थनीय है।

मुद्रक —शिल्पी प्रिन्टर्स, खिरनी वाला मैदान, भोपाल—१२